विषय वस्तु

	अनुवादक की ओर से	*ix*
	प्रस्तावना	*xi*
1.	आशा और आनंद	1
2.	प्रेम का पुट	12
3.	उड़ान भरने को तैयार	19
4.	जीवन का प्रवाह	28
5.	एक युग का पटाक्षेप	33
6.	नया जीवन, नई ज़िम्मेदारियां	38
7.	अपने धैर्य का दायरा बढ़ाना	53
8.	बच्चों का लालन-पालन एक स्वतंत्र वातावरण में	59
9.	ओह, चाकू!	65
10.	सब के लिए घर	77
11.	जश्न तो बनता है	84
12.	तैयार करना, तय करना और भर्ती करना	88
13.	परिवार में ही रहे स्वाति	95
14.	ग़लतियों से सीखते हुए आगे बढ़ना	105
15.	कितने साल में आप कितना जिए	111

16. जब रास्ते तुम्हें तलाश लेते हैं 113
17. भविष्य की ओर 123
आभार *135*

अनुवादक की ओर से

'योगी इम्प्रैशंस' ने जब मुझे अंग्रेज़ी पुस्तक 'स्वाति स्नैक्स' का अनुवाद करने का प्रस्ताव भेजा तो एकबारगी तो मैंने ना कहने की सोची, क्योंकि मुझे लगा था कि यह व्यंजन बनाने की कोई रेसिपी बुक होगी। ऐसी किताब का अनुवाद करने में मेरी कोई रुचि नहीं थी क्योंकि मेरी रुचि उन किताबों का अनुवाद करने में रहती है जो धीर-गंभीर हों और जीवन के लिए कोई संदेश देने वाली हों। लेकिन, जब उन्होंने उसकी सॉफ़्ट कॉपी पढ़ने के लिए मुझे भेजी तो उसे पढ़ कर मैं आश्चर्यचकित रह गया था। वह कोई रेसिपी बुक नहीं थी, जैसा कि उसके नाम से मैं समझ बैठा था, वह तो इसकी लेखिका और मुंबई के स्वाति स्नैक्स रेस्टोरेंट्स शृंखला की स्वामिनी और संचालिका आशा झवेरी के जीवन का एक ऐसा रोचक सफ़रनामा है जिसमें जीवन का शायद हर रंग है, हर स्वाद है और हर सुगंध है और संदेश भी है।

इस किताब के शुरू में उनके स्कूल के दिनों का सजीव वृत्तांत पढ़ कर मेरी तरह ही अधिकांश लोगों को अपने स्कूल के दिन और ख़ास तौर से गणित की कक्षा में दिल की धौंकनी बन जाने वाले दिन, अवश्य ही याद आ जाएंगे। वाक़ई, जैसा कि लेखिका ने इसमें लिखा भी है, कोई कल्पना नहीं कर सकता था कि संकोची, शर्मीली और डरी-डरी

रहने वाली लड़की एक दिन प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित 'स्वाति स्नैक्स' की मालकिन होगी और उसकी बागडोर संभाल रही होगी और वह भी उल्लेखनीय सफलता और गर्व के साथ!

आशा झवेरी ने बड़ी बेबाकी से और अपनी सरल-सुंदर शैली से, अपने दिल का हाल बयां किया है कि अपने जीवन में किस तरह कौन सी आपदा और बाधा आने पर उन्होंने क्या किया और कैसे उनका जीवन एक डरी-डरी लड़की से शुरू होकर व्यावसायिक सफलता से होता हुआ आध्यात्मिक साधना तक जा पहुंचा। अपने जीवन के घटनाक्रम को उन्होंने जिस कुशलता और सुंदरता से पिरो कर यह किताब लिखी है, वह देखने योग्य है। इसे आप बड़ी रुचि के साथ इस तरह पूरी पढ़ जाऐंगे जैसे यह स्वाति स्नैक्स रेस्टोरेंट की कोई स्वादिष्ट डिश हो जिसे पूरा चट किए बिना कोई रुक नहीं पाता है।

आशा झवेरी की आत्मकथा जैसी यह किताब हमें बाधाओं के बावजूद सफलता के मार्ग में आगे बढ़ना सिखाती है और उस सब के साथ आध्यात्मिकता तक पहुंचना सिखाती है - यह हमें जीवन जीने की रेसिपी सिखाती है।

अचलेश चंद्र शर्मा
मेरठ
acsharma.trans@gmail.com

प्रस्तावना

यह किताब एक दिलचस्प रहस्य का उद्घाटन करती है। इसको पढ़ने से पहले तो मैं यही समझती थी कि स्वाति स्नैक्स के बारे में मैं सब कुछ जानती हूं। आख़िर, स्वाति स्नैक्स केवल एक रेस्टोरेंट नहीं है। यह तो मुंबई की एक प्यारी सी पहचान है और एक ऐसा स्थान है जहां मुंबई घूमने आने वाले हर पर्यटक को अवश्य जाना चाहिए।

मैं 1974 से स्वाति स्नैक्स के स्वाद का आनंद उन दिनों से ले रही हूं जब मैं मुंबई विश्वविद्यालय में जर्नलिज़्म पढ़ रही थी। उसके बीस साल बाद मैंने पहली बार स्वाति स्नैक्स के बारे में टाइम्स ऑफ़ इंडिया के लिए अपने स्तंभ में बड़ी सी समीक्षा लिखी थी और तब से हम अपना प्रतिष्ठित टाइम्स फूड अवार्ड स्वाति स्नैक्स को ही नज़र करते आए हैं।

शुरुआत में, स्वाति स्नैक्स एक साधारण सा रेस्टोरेंट हुआ करता था - कोई तामझाम नहीं। बस एक छोटा सा, साधारण सी मेज-कुर्सी वाला रेस्टोरेंट, लेकिन तरह-तरह के मसालों से महकती उसकी ग़ज़ब चाट का और क्रीम व फलों के टुकड़ों वाली, हाथों से मथी हुई, उसकी आइसक्रीम का क्या कहना था. . .! तीस साल पहले वह मेरा 'लव एट फ़र्स्ट बाइट' था। उसके बाद, जैसे-जैसे उसका मैन्यु बड़ा होता गया, वैसे-वैसे मेरी पसंदीदा चीज़ें भी बढ़ती चली गईं। केले के चमकदार पत्ते को हौले से

खोलना, उसमें से रुमाल जैसे पतले और भाप में सिके हुए चावल के आटे की पानकी का निकलना, उस पर चटनी लगाना और फिर उसकी मसाला मिर्ची को दांतों से कच्च से काटना - क्या आनंद आता था उसमें! अब तो वे कई तरह की नई-नई डिश भी बनाने लगे हैं, लेकिन वो वाली पानकी, दही पूरी और गन्ने का हाथों हाथ निकाला गया ताज़ा-ताज़ा रस अब भी उनकी बेहतरीन पहचान बनी हुई है।

उस दौरान मृदु भाषी आशा से मेरी खूब मुलाक़ात होती रहती थी - उनके रेस्टोरेंट में मिशेलिन स्टार वाले अनेक शैफ़ों के लिए बुकिंग कराने के दौरान भी और अपनी पसंदीदा पानकी के लिए और वहां की चाट के लिए एक ख़ास तरह की अपनी ललक को शांत करने के लिए स्वाति स्नैक्स जाने पर भी। इसलिए, मुझे ऐसा लगने लगा था कि हर-दिल-अज़ीज़ और घर जैसा लजीज़, इस शुद्ध शाकाहारी रेस्टोरेंट के बारे में और दक्षिण मुंबई निवासी इसकी मालकिन के बारे में, मैं सब कुछ जान गई हूं; लेकिन ऐसा था नहीं!

रेसिपी - आनंद के लिए

यह किताब एक ऐसी दावत जैसी है जिसके सामने तमाम दावतें फीकी पड़ जायेंगी। इसमें, आशा अपनी कुछ विरली रेसिपी तो बतायेंगी ही, साथ ही बड़ी ईमानदारी और बेबाकी से अपने जीवन के हर पहलू के बारे में भी बतायेंगी। लेखिका तनुष्का वैद्य ने इसमें आशा की जीवन गाथा का शब्द चित्रण बड़ी गहराई और तदानुभूति के साथ किया है। यह पढ़ना बड़ा ही दिलचस्प लगता है कि जो व्यंजन बाद में इस रेस्टोरेंट के मैन्यु में शामिल हुए वे आए कहां से और कम उम्र में खाना बनाने के

प्रति आशा का रूझान हुआ कैसे - इस बात से लेकर कि अपने बचपन में आशा जब अपनी गुड़िया का ब्याह रचाती थी तब दावत के लिए वह कैसे-कैसे मैन्यु बनाती थी, इस बात तक कि चौपाटी बीच के रोज़ शरबत गोला के लिए वह कितनी दीवानी थी।

साथ ही, इस किताब में आशा के जीवन की प्रेरणाप्रद वह कहानी भी है जिसमें शामिल है विघ्न-बाधाओं से उनका दो-चार होना और रूढ़िवादी परिवार के विरोध के बावजूद अपनी उत्साही मां के साथ स्वाती स्नैक्स को शुरू कराना। उन दिनों, सड़क के किनारे केवल भैया लोग ही चाट बनाने-खिलाने का काम किया करते थे। ऐसे में, आशा की माताजी ने स्वाति स्नैक्स खोलने का निर्णय लेकर न केवल एक नई रीत चलाई बल्कि वे महिला सशक्तिकरण की प्रतीक भी बन गईं। उनकी यह कहानी भी उतनी ही दिलचस्प है कि अपनी माताजी के देहांत के बाद किस तरह आशा को ही रेस्टोरेंट की बाग-डोर संभालनी पड़ी, जब कि स्वाति से जुड़ने से पहले वे कुकिंग का 'क' भी नहीं जानती थीं। लेकिन कमाल तब हो गया जब उन्होंने उस रेस्टोरेंट की एक-एक करके तीन शाखाएं और खोल दीं।

स्वाति स्नैक्स रेस्टोरेंट की सादगी पर मत जाइए। इसका भोजन, इसके व्यंजन इतने लाजवाब, इतने बेनज़ीर हैं कि वे लुभाते तो हैं ही, साथ ही तृप्त भी करते हैं - बिल्कुल इस किताब की तरह जो कि आपके हाथों में है। आनंद लीजिए इसका!

रश्मि उदय सिंह
व्यंजन समालोचक और 40 व्यंजन पुस्तकों की लेखिका

1
आशा और आनंद

मेरा जन्म भारत की स्वतंत्रता से दो वर्ष पहले 1945 में मुंबई के एक छोटे से परिवार में हुआ था। उस परिवार में परस्पर बड़ा जुड़ाव था। मेरे जन्म के तीन वर्ष बाद, 1948 में, मेरे भाई का जन्म हुआ। मेरे माता-पिता ने मेरा नाम आशा रखा था और मेरे भाई का नाम आनंद। अगर मुझे अपने बचपन का वर्णन दो शब्दों में करना हो तो वे दो शब्द होंगे 'आशा' और 'आनंद'। हमारा घर हमेशा ही उमंग, उल्लास, हंसी-खुशी और प्रेम से ओतप्रोत रहा करता था। भारत की स्वतंत्रता प्राप्ति के इतने निकट जन्मने के कारण, हमारा लालन-पालन एक ऐसे समाज में हुआ जो कि भारतीय मूल्यों और परंपराओं में पगा हुआ था - विशेषकर खान-पान और स्थानीय व्यंजनों के संदर्भ में। हां, कुछ यूरोपियन असर तब भी रह गया था, लेकिन बस थोड़ा ही।

हमारा घर जिस इलाक़े में था उसे गोवालिया टैंक कहा जाता था और वह दक्षिण मुंबई का गुजराती व जैन बहुल इलाक़ा था। गोवालिया टैंक में तीन लेन थीं जो कि एक बड़े गोल चक्कर पर जाकर जुड़ जाती थीं। हम एलेग्ज़ेंडर रोड पर रहते थे और हमारे नाना-नानी वहां से पांच मिनट की पैदल दूरी पर रहा करते थे। वह इलाक़ा हमेशा

ही बड़ा शांत रहता था, ठहरा-ठहरा सा और खूब हरा भरा भी। जीवन वहां अपनी मंथर गति में चला करता था, बिना कोई शोर किए। उन दिनों न तो चिंघाड़ते हुए हॉर्न सुनाई पड़ते थे और न ही टायरों की चीईईईईक सुनाई पड़ती थी। अगर कोई कोलाहल वहां सुनाई पड़ता था तो वह था स्कूल की छुट्टी के समय बच्चों का खुशी से किलकना, हुलसना और हंसना-हंसाना।

उस इलाक़े में एक जैन मंदिर था, दो स्कूल थे, एक छोटा सा रेस्टोरेंट था और कुछ दुकानें थीं। अपने आपमें एक दुनिया थी वह और बरसों तक मेरा जीवन उन तीन लेन के लोगों और स्थानों के इर्द-गिर्द ही घूमता रहा था।

हमारे बचपन में, आनंद और मैं अपना काफ़ी समय नाना-नानी के घर पर बिताया करते थे। उनका घर हमारे लिए दूसरा घर जैसा ही था। रविवार और छुट्टी के दिन तो हम उनके घर सुबह ही पहुंच जाते थे और लंच तक वहीं रहा करते थे। हालांकि, हम प्रेम तो उन दोनों को ही बहुत करते थे, लेकिन उन दोनों के मिज़ाज में ज़मीन आसमान का अंतर था। नाना तो नियम-क़ायदे पर चलने वाले और सख़्त थे, लेकिन नानी सहज स्वभाव वाली थीं और हमारे साथ एक दोस्त की तरह बर्ताव करती थीं।

हमारी नानी जैन धर्म की पक्की अनुयायी थीं और बचपन से ही पूजा-पाठ, प्रार्थना, पद्धति और संस्कारों का महत्व वे मेरे मन में उड़ेलने की कोशिश करती रही थीं। हर रविवार की सुबह को मैं अपने अच्छे वाले कपड़े पहन कर उनके घर पहुंच जाती थी और फिर नानी और मैं साथ-साथ पास के ही जैन मंदिर जाया करते थे जो कि बराबर वाली लेन में पांच मिनट की पैदल दूरी पर था। उस साथ-साथ जाने के दिनों की बहुत सारी मीठी यादें मेरे मन में आज भी बनी हुई हैं। वह एक ऐसा

समय होता था जब मुझे लगा करता था जैसे दुनिया में बस हम दोनों ही हैं, कोई और नहीं है और उनकी पूरी तवज्जो बस मुझे ही मिल रही है।

इसके उलट, बचपन से ही आनंद की रुचि धर्म के प्रति कोई ख़ास नहीं रही थी। इस विषय में वह कुछ-कुछ हमारी मां जैसा था। मंदिर जाने के लिए वह कभी हमारे साथ नहीं गया। हालांकि नानी ने वहां चलने के लिए उसे फुसलाने की बहुत कोशिश की, लेकिन उस पर कोई असर नहीं हुआ और वह नहीं गया तो नहीं ही गया।

नानी ने मुझे कई सारे श्लोक सिखाए थे। उनमें से कई का पाठ तो मैं बरसों तक करती रही थी, शादी के बाद भी। पहला श्लोक जो मैंने सीखा था, वह था नवकार मंत्र। और, मुझे अभी तक साफ़-साफ़ याद है कि कैसे नानी और मैं हाथ जोड़ कर और आखें कस कर बंद करके साथ-साथ प्रार्थना कुछ इस तरह किया करते थे जैसे ईश्वर हमारे एक-एक शब्द को सुन रहा हो।

अरे, स्कूल की छुट्टी क्यों नहीं हुई अभी तक?

शांति और हंसी-खुशी से भरे मेरे उस जीवन में खांचा-खरोंच जैसी अगर कोई एकमात्र चीज़ थी तो वह थी स्कूल। अगर मैं कहूं कि मैं स्कूल को उतना ही नापसंद करती थी जितना कि स्कूल मुझे नापसंद करता था, तो अतिशयोक्ति नहीं होगी।

जब मैं कक्षा छः में थी तब तक मैं और आनंद तारदेव स्थित गुजराती मीडियम वाले 'सहकारी विद्या मंदिर' में साथ-साथ जाया करते थे। वह स्कूल हमारे घर से 15 मिनट की ड्राइविंग दूरी पर था। जब मैं कक्षा छः में गणित और विज्ञान विषयों में फेल हो गई और मुझे एक साल उसी कक्षा में रहने के लिए कहा गया तो मेरी मां ने इसके लिए इंकार कर दिया और हमें दूसरे स्कूलों में डाल दिया।

आनंद को न्यू एरा स्कूल में भेज दिया गया और मुझे फ़ैलोशिप स्कूल में। दोनों के ही स्कूल हमारे घर से पांच मिनट की पैदल दूरी पर थे। हालांकि दोनों ही स्कूल को-एजुकेशन वाले स्कूल थे, लेकिन दोनों को अलग-अलग स्कूलों में जानबूझ कर डाला गया था। चूंकि यह दीख रहा था कि मैं पढ़ने में फिसड्डी थी, इसलिए मेरी मां को यह चिंता हो गई थी कि अगर मैं इसी तरह फ़ेल होती रही तो एक दिन ऐसा भी आ सकता था कि मैं और आनंद एक ही कक्षा में बैठे होंगे, जब कि मैं उससे तीन साल बड़ी थी। उस शर्मिंदगी से और उसके पड़ सकने वाले प्रभाव से बचने के लिए उन्होंने हमारे रास्ते अलग कर दिए।

लेकिन, इससे मेरी मुसीबत और बढ़ गई। उस नए स्कूल में पढ़ाई मिले-जुले मीडियमों से होती थी - अंग्रेज़ी और गुजराती। अंग्रेज़ी वहां केवल एक विषय के रूप में नहीं थी बल्कि कुछ विषय अंग्रेज़ी मीडियम से पढ़ाए भी जाते थे। इसलिए, मेरे लिए तो वहां की पढ़ाई पहाड़ जैसी हो गई थी। असंभव हो गई थी। कक्षा में जो कुछ भी पढ़ाया जा रहा होता था, वह मुझे कुछ समझ ही नहीं आता था, इसलिए मैं अधिकतर समय अपनी नज़र किताब पर गढ़ाए रखती थी, बस। उस समय मेरा मन रोने-रोने को हो रहा होता था।

गणित मेरा सबसे कमज़ोर विषय था। जोड़ना-घटाना मैं मौखिक रूप से नहीं कर पाती थी और पहाड़े तो मेरे दिमाग़ में टिक ही नहीं पाते थे। जब मैं किसी सवाल को हल करने की लाचार और नाकाम कोशिश करती थी तो पेज पर उसके अंक और संख्याएं जैसे जमघट लगा कर बैठ जाते थे।

उन दिनों की कक्षा की मेरी कुछ बदतरीन यादें और मेरे वे डर अभी भी मेरे मन में मौजूद हैं। उन दिनों, शायद ही कोई दिन ऐसा जाता था जिस दिन कोई बात समझ न पाने के कारण मेरे टीचर मुझ पर चिल्लाते

न हों। वे मानने लगे थे कि मैं मूढ़मति हूं और यह भी कि मैं कभी कुछ नहीं कर सकूंगी। जवाब ग़लत होने के कारण अक्सर मुझे बैंच पर खड़ा कर दिया जाता था। उस समय मेरा सर शर्मिंदगी से झुक जाता था, चेहरा लाल हो जाता था।

हर दिन, सारे दिन, वहां मैं घड़ी ही देखती रहती थी और दुआ करती रहती थी कि कब छुट्टी की घंटी बजे और कब मैं भाग कर अपने घर पहुंचूं - घर, जहां मुझे कोई ख़तरा नहीं होगा। मुझे अपना वह डर और वह घबराहट अभी भी याद है और यह महसूस करना भी याद है कि मैं कुछ भी करूं, लेकिन पढ़ाई में मैं फिसड्डी ही हूं।

स्कूल के लंबे घंटों के बीच में जो एकमात्र राहत और मोहलत मुझे मिलती थी वह यह थी कि खाने की छुट्टी के दौरान खाना खाने के लिए मैं घर आ जाती थी और मेरा भाई भी आता था। घर के सुकून में वापस आकर मैं गहरी सांस लेती थी, चैन की सांस लेती थी।

जब कभी भी हम नानी के घर जाते थे तो मैं उन्हें बताती थी कि मेरे टीचर ऐसा मानते हैं कि मैं जीवन में कुछ नहीं कर पाऊंगी, तब नानी इंकार में अपना सिर हिला देती थीं, प्यार से मुस्कुराती थीं और मेरे बालों को सहलाते हुए कहती थीं, ''चिंता मत करो आशा, घबराने की कोई बात नहीं है। सब ठीक हो जायेगा।'' प्यार और प्रोत्साहन भरे उनके शब्द मेरे लिए सब कुछ थे, वे मुझे फिर से स्कूल जाने की हिम्मत देते थे।

'वसुधैव कुटुम्बकम्' वाले बच्चे

मेरी सहेलियां हालांकि थोड़ी ही थीं लेकिन वे मेरी पक्की सहेलियां थीं। मैं अपना अधिकांश समय उनके साथ स्कूल की कैंटीन में या अपनी बिल्डिंग के कंपाउंड में बिताया करती थी। हमारे स्कूल की कैंटीन अपने सैंडविच, समोसा और रगड़ा पेटीस के लिए मशहूर थी।

पॉकेट मनी के रूप में मुझे हर महीने बीस रुपए मिला करते थे। उन्हें मैं बड़ी किफ़ायत से खर्च करती थी कि वे खत्म न हो जाएं, ताकि मैं अपनी सहेलियों के संग बाहर जा सकूं।

मेरी सहेलियों को भी उतना ही पॉकेट मनी मिलता था और वे भी उसे बचाने की जुगाड़ में रहती थीं। इसलिए कहीं बाहर जाने के बजाय अक्सर वे मेरे ही घर आ जाती थीं और फिर हम सब एक साथ बैठ कर गप्पें मारतीं थी, ठहाके लगाती थीं और खेल खेलती थीं। जब कभी आनंद और उसके दोस्त भी हमारे साथ शामिल हो जाते थे, फिर तो हम एक बड़ा सा उधमी ग्रुप बन जाते थे जो कि घर में खूब धमा-चौकड़ी मचाता था। फिर, घर वाले जब हमें नीचे कंपाउंड में जाकर खेलने को कह देते थे तो नीचे कंपाउंड में जाकर हम खो-खो, छुप्पन-छुपाई, साकली और कैच एंड नुक जैसे खेल खेला करते थे।

हर शाम को, बच्चों के खिलखिलाने की और किलकारियां भरने की आवाज़ों से आसपास के घरों की दीवारें गूंजने लगती थीं और पूरी कॉलोनी प्रेम, प्रसन्नता और प्रफुल्लता के वातावरण से भर जाया करती थी, हालांकि बीच में कभी-कभी किसी बड़े की यह आवाज़ भी सुनाई पड़ जाया करती थी - ''अरे, इतना हल्ला मत करो।''

उन दिनों की मेरी सबसे प्यारी यादगारों में से एक वह है जिसमें मैंने और मेरी सहेली ने अपनी गुड़ियाओं का ब्याह रचाने का इरादा किया था। मेरे पास एक गुड़िया थी और उसके पास एक गुड्डा था। हम दोनों ने मिल कर योजना बनाई कि विवाह समारोह को विस्तार से मनाया जाए और उसमें सभी रीति-रिवाज़ों व परंपराओं को असली विवाह की तरह निभाया जाए - और वो भी एक बढ़िया दावत के साथ।

गुड़िया-गुड्डे के विवाह का वह समारोह मेरे ही घर पर हुआ। वह मेरे लिए एक खर्चीला काम था। शादी में महमानों की सूची लंबी थी। उसमें स्कूल की सहेलियां भी बुलाई गई थीं। बालसुलभ भोलेपन लेकिन पूरी गंभीरता के साथ शादी की सारी रस्में पूरी की गईं और फिर हमने खाना भी परोसा।

मेरे जीवन का वह पहला मैन्यु था जिसे मैंने बनाया था और उसमें मैंने कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी थी। मैंने और मेरी सहेली ने अपनी-अपनी मांओं से कहा था कि वे हमारे लिए खाना बना दें और उनका बना हुआ वह खाना अब सबके सामने रखा हुआ था। उस खाने में थीं घर में बनाई हुई गरम-गरम जलेबियां, गुजराती मीठी दाल, चावल, आलू की सब्जी, दही वडा, सफ़ेद ढोकला और आलू चिप्स। शाम को सब विदा हो गए - लेकिन सभी बहुत प्रसन्न और प्रभावित होकर गए थे - उस खाने से जो उन्होंने खाया था और उस विवाह समारोह से जो उन्होंने देखा था।

जब तक मैं बच्ची रही तब तक हमने ऐसे कई आयोजन किए और हमारे परिवार वाले हमेशा उनमें खुशी-खुशी शामिल रहे। उन दिनों कोई टैक्नोलॉजी तो थी नहीं जो हमारा ध्यान अपनी ओर खींचती और हमें उलझाए रखती और न ही तब अंधाधुंध तेज़ ट्रैफ़िक हुआ करता था कि हमें सड़क पर खेलने में कोई ख़तरा हो। हमारे पास खूब जगह थी, खूब समय था और खूब आज़ादी थी।

हमारे माता-पिता को हमारी हिफ़ाज़त की कोई फ़िक्र नहीं रहा करती थी और न ही वे हमारे भविष्य को लेकर हम पर कोई दबाव बनाया करते थे - उन दिनों ऐसा कुछ हुआ ही नहीं करता था। हमारे माता-पिता हमारा लालन-पालन इस प्रकार नहीं करते थे कि हम दुनिया से डरें, वे हमारा लालन-पालन ऐसे करते थे जैसे कि हम 'वसुधैव कुटुम्बकम्' वाले बच्चे हैं।

अहा, मेरा भाई!

हमारे बचपन में हमारे घर में एक नौकरानी थी - राधाबाई। वह हर जगह हमारे साथ जाया करती थी। एक जगह थी जहां वह हमें अक्सर ले जाया करती थी, वह थी चौपाटी बीच। वह बीच मुंबई के सबसे बड़े बीचों में से एक था और हमारे घर से 15 मिनट की ड्राइविंग दूरी पर था।

वहां खड़े होने वाले ठेली वालों में एक था 'गोला वाला' जो कि बर्फ़ को घिस कर एक गोला बना देता था, फिर उसमें एक सींक लगा देता था ताकि हम उसे हाथ से पकड़ सकें और फिर उस गोले पर वह शरबत की धार डालता था। वह अलग-अलग रंगों के गोले बेचा करता था। मुझे और आनंद को बाहर की चीज़ें खाने की अनुमति नहीं थी और गोला खाने की तो बिल्कुल भी नहीं थी, क्योंकि स्वास्थ्य और स्वच्छता की दृष्टि से उसे शक के दायरे में रखा जाता था। वह गोले वाला चाट मसाले जैसे कुछ मसाले भी हर गोले के ऊपर छिड़क दिया करता था जिससे गोले में नमकीन और चटपटा स्वाद भी आ जाता था। गोले के ऊपर छिड़के गए उस मसाले को चाटने में मुझे बहुत मज़ा आता था और इसलिए मैं उससे थोड़ा और मसाला छिड़कने को कहा करती थी। मेरे पसंदीदा स्वाद और सुगंध वाला गोला था 'काला खट्टा गोला'। उसका यह नाम इसलिए पड़ा क्योंकि उस पर काला व खट्टा शरबत डाला जाता था। उसका स्वाद खट्टा-मीठा होता था और गर्मियों के दिनों के लिए तो वह बहुत बढ़िया होता था। गोले को मुंह से लगा कर चूसने से गोले पर डाले गए शरबत का रंग मेरे होठों पर चढ़ जाता था और मेरे होंठ लाल हो जाते थे। इसलिए, गोला खाने के बाद मैं ऐसे चलती थी जैसे मैं बड़ी लड़की हो गई हूं जिसने लिपिस्टिक लगा रखी है। इसलिए जब भी मैं चाहती थी कि मेरे होंठ लाल दीखें, तब मैं 'रोज़ शर्बत गोला' या 'ओरेंज शर्बत गोला' खाया करती थी।

राधाबाई सब जानती थी और मां के आदेश के विरुद्ध वह चोरी-छिपे मेरे लिए गोले खरीद दिया करती थी। इसके उलट, आनंद न तो गोला खरीदता था और न ही बाहर की कोई चीज़ खरीदता था क्योंकि ऐसा करने की अनुमति नहीं थी। वह बड़ा शांत रहने वाला लड़का था और जो कुछ उससे कहा जाता था उसे वह ध्यान से सुनता था और मानता भी था। और दोनों के बीच कई अंतर थे जिनमें से एक अंतर यह था।

आनंद और मुझमें लगभग हर बात में बहुत अंतर था, बहुत भिन्नता थी - चाहे खाने की पसंद-नापसंद की बात हो या पहनावे की या बोलने के ढंग की। हम दोनों में कहीं कोई समानता नहीं नज़र आती थी। और सबसे बड़ी असमानता तो यह थी कि जहां मैं स्कूल में मुश्किल से पास हुआ करती थी, वहीं मेरा भाई एक मेधावी छात्र था। वह बहुत बुद्धिमान था, मेहनती था और अपनी परीक्षाओं को बहुत अच्छे अंकों से पास किया करता था। शायद इसीलिए, बड़ा होते-होते मेरे अंदर असुरक्षा की भावना घर करती गई और मुझे लगने लगा था कि मां उसे अधिक प्रेम करती हैं। इस बात ने मुझे ईर्ष्यालु बना दिया था और अक्सर इस बात की भड़ास मैं उसी पर उतार दिया करती थी।

बड़ी बहन होने का फ़ायदा उठाते हुए, मैं उस पर धौंस जमा कर जो चाहती करा लेती थी। जब कभी हममें मतभेद होता था तो मैं उससे झगड़ पड़ती थी और कभी-कभी तो उसे चपत भी जड़ देती थी। हालांकि वह भी जीतने की कोशिश करता था, लेकिन उससे बड़ी होने के कारण आमतौर पर मैं ही जीत जाती थी।

लेकिन जब हम टीन एज में आए तो हमारे संबंधों में बदलाव आने लगा। जैसा कि अधिकांश सहोदर करते हैं, हमने भी छोटी-छोटी बातों पर लड़ना-झगड़ना बंद कर दिया और हममें सौहार्द बढ़ने लगा।

ऐसी बहुत सी घटनाएं हुईं जो बताती हैं कि आनंद मेरा कितना ख़याल रखता था। उनमें से एक घटना तब की है जब मैं लगभग तेरह साल की थी। उस दिन आनंद, मैं और वीरालालजी (जो कि वैसे तो हमारे घर खाना बनाने का काम करते थे लेकिन वे बिल्कुल पारिवारिक सदस्य जैसे हो गए थे), साइकिल चलाने के लिए वर्ली गए थे। यह उन दिनों की बात है जब पेडर रोड और ह्यूजेस रोड को जोड़ने वाला फ्लाईओवर नहीं बना था और इसलिए पेडर रोड और वर्ली के बीज लगभग 500 मीटर का एक तेज़ ढलान था। उस दिन पता नहीं मुझे क्या सूझा, मैंने उस ढलान पर पूरी स्पीड से साइकिल उतारने की सोची - केवल यह देखने के लिए कि देखूं मैं कितना तेज़ जा सकती हूं। लेकिन पल भर में मुसीबत तब खड़ी हो गई जब मुझे एहसास हुआ कि मुझे तो ढंग से ब्रेक लगाना आता ही नहीं है। फिर क्या था, इतनी तेज़ी से ढलान पर उतरते हुए मैं साइकिल पर अपना नियंत्रण खोने लगी। आनंद और वीरालालजी मेरे पीछे दौड़ते आ रहे थे और चिल्ला-चिल्ला कर कह रहे थे, ''आशा, ब्रेक दबाओ, ब्रेक दबाओ!'' लेकिन मैं तो इतनी घबरा गई थी कि कुछ सोच-समझ नहीं पा रही थी और साइकिल पर बस बुत बनी बैठी थी। सौभाग्य से, जल्दी ही ढलान ख़त्म हो गई और चौरस सड़क आ गई तो मेरी साइकिल अपने आप धीमी हो गई। जैसे ही मैं साइकिल से उतरी त्यों ही आनंद दौड़ता हुआ आया और चिल्ला कर बोला, ''आपको चोट लग सकती थी! आप अपना ख़याल क्यों नहीं रखती हैं?'' हालांकि, जवाब में मैंने कुछ नहीं कहा लेकिन मन ही मन मुझे महसूस हुआ कि उसे मेरी फ़िक्र थी क्योंकि तब तक मैं जान चुकी थी कि भले ही आनंद खुल कर स्वीकार न करता हो लेकिन वह मेरा ख़याल बहुत रखता है, मेरी फ़िक्र बहुत करता है।

भले ही हम दोनों लंबी-लंबी बातें नहीं करते थे, मन की बातें नहीं करते थे, या दिल के राज़ एक दूसरे से साझा नहीं करते थे लेकिन इतना मैं जान चुकी थी कि मैं उस पर भरोसा कर सकती हूं और आवश्यकता पड़ने पर वह एक मज़बूत सहारे की तरह मेरे साथ खड़ा हो सकता है। समय के साथ, उसे मैंने 'खीज पैदा करने वाले छोटू' की तरह देखना बंद कर दिया और स्वीकार कर लिया कि वह मेरे बराबर का है, मेरा दोस्त है - जीवन भर के लिए।